

‘समकालीन तीसरी दुनिया’, अगस्त 2015 में प्रकाशित

‘योद्धाओं को मानसिक रूप से तैयार करने का काम सांस्कृतिक मोर्चा को संभालना है’

हिंदी-बांग्ला क्रांतिकारी साहित्यधारा के मूर्धन्य कवि कंचन कुमार से तुषार कांति की बातचीत

बनारस, दिल्ली और अब कोलकाता में रह कर हिंदी और बांग्ला भाषाओं में क्रांतिकारी साहित्य के प्रकाशन और अनियतकालीन पत्रिका ‘आमुख’ के संपादन में जुटे रहे कंचन दा किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। वे आजीवन क्रांतिकारी साहित्य-साधना करते रहे। समकालीन तीसरी दुनिया के पाठकों के लिए प्रस्तुत है कंचन कुमार से लंबी बातचीत।

कंचन कुमार जी, देश के अन्य पाठकों के साथ ही हिंदी पाठकों को भी, जो क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति रुचि और उत्सुकता दिखाते हैं, यह बताना चाहता हूँ कि पिछले करीब 50 साल से हिंदी और बांग्ला साहित्य में जो क्रांतिकारी साहित्य की धारा है, उसमें आपका योगदान क्या रहा...थोड़ा आप अपने जीवन के बिल्कुल शुरुआती दिनों के बारे में बताएं कि आपका जन्म कहाँ हुआ..आपका शैशव कैसा बीता आदि...

बांग्ला या हिंदी में क्रांतिकारी साहित्य धारा में मेरा कोई योगदान रहा या नहीं, यह तो इतिहास ही तय करेगा, मैं अपने बारे में यह बता सकता हूँ कि मेरा जन्म वर्द्धमान जिले के एक छोटे से गांव बिरुडिया में हुआ था जो पानागढ़ और दुर्गापुर के ठीक बीच जीटी रोड के बगल में स्थित है। 1936 के 23 अक्टूबर या ऐसे ही किसी समय। मेरे घर में, मेरे परिवार में मेरे पिताजी बांग्ला भाषा के अच्छे कवि थे, उनके दो कविता संग्रह काफी चर्चित हुए। पहला ‘चारण’ और दूसरा ‘नीलामयी’। हम तीन भाई थे। हमारी कोई बहन नहीं। तीनों में मैं ही बड़ा था। यह इलाका मलेरिया से ग्रस्त इलाका था। हम तीनों भाइयों को एक साथ मलेरिया का बुखार हुआ तब उपचार के साथ डॉक्टर ने यह भी कहा कि हमें यहां से जगह बदलनी चाहिए। हवा बदलने की जरूरत है। इसी के बाद हम हमेशा के लिए बनारस चले गए और वहीं बस गए। उस समय मेरी उम्र आठ साल की थी। मुझसे छोटा... और वह मुझसे चार साल छोटा था, और उससे भी छोटा दो साल छोटा था। इस तरह मैं घर का बड़ा लड़का था। जब हम बनारस गए तब हम बहुत ही छोटे-छोटे थे लेकिन बनारस का माहौल हमें अच्छा लगा। हमारे घर वालों को भी अच्छा लगा। पिताजी ने वहीं मकान बनाया। पिताजी वर्द्धमान जिले में बुदबुद स्थित पफौजी खेमे में मिलिट्री कंाट्रेक्टर थे। 1944 में जब मैं करीब आठ साल का था अड़तीस साल की कम उम्र में एक मोटर दुर्घटना में उनका देहांत हो गया। कहा जा सकता है कि मेरा कोई बचपन ही नहीं रहा। आठ वर्ष की उम्र में एक ऐसे स्थान, जिससे हम परिचित भी नहीं थे, वहां परिवार का अभिभावक के रूप में परिवार की जिम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी।

आपकी शिक्षा-दीक्षा क्या बनारस में ही हुई?

हां मेरी शिक्षा बनारस में हुई।

आपने अपने पिता के कवि और साहित्यिक पृष्ठभूमि पर हमें जानकारी दी। आपने अपनी माताजी के बारे में अधिक जानकारी नहीं दी। क्या हमें इस बारे में भी कुछ बताएंगे ?

मेरी मां बहुत शिक्षित नहीं थी लेकिन पारंपरिक ढंग की शिक्षा उन्हें मिली थी। हम लायब्रेरी से जब किताबें लाते थे तो वे भी पढ़ा करतीं। हमने आपको बताया ही है कि बहुत कम उम्र में मेरे पिताजी का देहांत हो गया। तब उनकी उम्र अड़तीस थी और मेरी मां की बत्तीस। और हम बंगाल से काफी दूर बनारस जैसे एक शहर में रह रहे थे। उन्हें वहां की भाषा की भी जानकारी नहीं थी। इसके बावजूद उन्होंने अपने तीन लड़कों को समुचित रूप से शिक्षित किया। एक तरह उन्होंने अपने समस्त जीवन का बलिदान देकर हमें बड़ा किया। वह काफी उदारमना भी थीं। उस समय के हिसाब से तो जरूर काफी उदार थीं।

क्या आपके साहित्यिक रुझान के पीछे भी उनका कोई योगदान रहा है?

बिल्कुल सीधे तो नहीं...पर घर में किताबें होती थीं और साहित्यिक चर्चा भी। हां हमारे घर क्रांतिकारी लोगों का आना जाना लगा रहता। जैसे मेरे परिवार में बांग्ला क्रांतिकारी कवि काज़ी नजरूल इस्लाम का आना जाना था। वे वर्द्धमान जिले के ही थे। और भी बहुत ऐसे लोग आते थे जो क्रांति के समर्थक थे। घर में एक परिवेश जरूर था लेकिन उस समय उन पर कांग्रेस के स्वदेशी आंदोलन का प्रभाव था। मेरी मां भी इसी रुझान की थीं।

आपकी पढ़ाई किस स्कूल और कॉलेज में पूरी हुई?

रामकृष्ण विद्यामंदिर नामक स्कूल है जो बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के अंतर्गत संचालित था। वहीं मेरी प्रारंभिक और उच्च माध्यमिक शिक्षा हुई। शुरू में उस समय इसे एंडमिशन कहते थे। बाद में मैंने बहुत दिनों पढ़ाई लिखाई नहीं की। लेकिन लिखने-पढ़ने की धुन मुझमें शुरू से ही थी। लिखना क्या है यह जानने से पहले मेरी दस किताबें विभिन्न प्रकाशकों के यहां से प्रकाशित हो चुकी थीं। मेरे कुछ साथी और संपादक मुझसे औपचारिक शिक्षा के बारे में पूछते तो मैं कहता शरतचंद्र की औपचारिक शिक्षा कहां हुई, इसकी कोई जरूरत नहीं है... लेकिन फिर भी आगे की पढ़ाई के लिए मैंने काशी विद्यापीठ में दाखिला ले लिया। वहीं से मैंने एम.ए. तक की पढ़ाई पूरी की। उस समय इसे एम.ए.एस. कहते थे, 'मास्टर ऑफ अप्लाइड सोशलॉजी'। अन्यत्र इसे ही एम.एस.डब्ल्यू (मास्टर ऑफ सोशल वर्क) कहते हैं। इस डिग्री से जल्दी ही अच्छी नौकरी मिल जाया करती। हालांकि नौकरी के बारे में मैंने सोचा भी नहीं था। मैंने लोगों के यह कहने पर कि यह पाठ्यक्रम अच्छा रहेगा एम.ए.एस. कर लिया...इसी दौरान हिंदी की एक पत्रिका 'मराल' का भी मैं संपादक था। उन दिनों उस पत्रिका में मैंने अवांगार्ड लेखन, बिल्कुल नये तरह का लेखन, उसको अधिक स्थान दिया। और साथ ही साथ तमाम प्रतिष्ठित लेखकों पर हमला भी करते जैसे उस समय की एक तिकड़ी थी- मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर। इन लोगों पर हमने काफी जोरदार हमले किये। इसी के समानांतर उस समय के जो नये लेखक-कवि थे जैसे विजयमोहन सिंह, शिवचंद्र शर्मा या धूमिल, ऐसे लोगों को और अन्य नये लेखकों को लगातार प्रकाशित करते आ रहे थे। हमारी पत्रिका बहुत लोकप्रिय हुई और श्रीकांत वर्मा से जब मेरी मुलाकात हुई तो उन्होंने मुझसे कहा कि हम पत्रिका का... 'बेसब्री से इंतजार करते हैं कि... इस बार तुम किसकी पिटाई कर रहे हो'। रवीन्द्र कालिया उन दिनों हमारी पत्रिका में 'मॉरिस नगर से मॉरिस नगर तक' एक फीचर लिखा करते थे। यह काफी लोकप्रिय था।

आपने अभी-अभी कहा कि 'नई कहानी' की तिकड़ी से दुश्मनी मोल ली, इसके पीछे आपकी समझ क्या थी?

हमें लगता था कि ये तीनों एक गैंग्स्टरीज्म के तौर पर काम करते हैं। हमें लगता था कि लेखन में खुलापन होना चाहिए। दूसरी बात कि इन लोगों ने एक खास किस्म के लेखन को मानक बनाने की कोशिश की जबकि हम समझते थे कि साहित्य में इस तरह का कोई स्तरीकरण (स्ट्रेटीफिकेशन) नहीं होना चाहिए।

क्रांतिकारी साहित्य की ओर आपका झुकाव क्यों, कैसे और कब हुआ?

हम जब 'मराल' निकाल रहे थे उन्हीं दिनों मैंने और राजकमल चौधरी ने मिलकर एक बांग्ला नवलेखन अंक निकाला। उसमें कृतिवास गुप जिसमें सुनील, संदीपन आदि थे उनसे लेकर हमने हंग्री जेनरेशन के जो कवि थे उनके साथ-साथ बांग्ला में जो नया साहित्य रचा जा रहा था उसको प्रकाशित किया था। इसी अंक में फणीश्वरनाथ रेणु ने 'रामपाठक की डायरी' नामक एक लंबा लेख लिखा था। इसी लेख में उन्होंने कृतिवास गुप और हंग्री जेनरेशन को हिंदी पाठकों से परिचित कराया था। यह अंक 1965 के जनवरी माह में प्रकाशित हुआ जिसे अत्यधिक सराहना मिली। और इसी के साथ हमारी यह पत्रिका बंद भी हो गई। एक तरह से कहा जाय तो जिस समय हमें अभिव्यक्ति के लिए पत्रिका की जरूरत थी ठीक उसी समय यह पत्रिका बंद हो गई... तो हमें उस समय अभिव्यक्ति के लिए मंच की बेहद जरूरत थी। एक पत्रिका की जरूरत थी। बनारस में हमारे साथ जो लोग थे, हम सब ने बैठकर सोचना शुरू किया। हमारे साथ चार उम्दा चित्रकार थे। हमारे समूह में मैं एकमात्र लेखक था और चार चित्रकार थे। एक थे अनिल करंजई, दूसरे करुणानिधान, तीसरे थे बिभास दास और चौथे थे सुधीर। ये चारों बिल्कुल ही नए किस्म से चित्रकारी करते थे। जैसे हम साहित्य में नये तरीके से सोचते-विचारते थे, इनकी पेंटिंगों में भी उसी तरह नयापन झलकता था...तो हम चारों ने मिलकर पत्रिका शुरू करने की सोची। तो इस प्रकार 1965 के किसी समय हमारी पत्रिका निकली। हमने उसका नाम 'आमुख' रखा। हमने सोच रखा था कि केवल पाठक और लेखक के सहयोग से ही यह पत्रिका निकाली जाएगी और इसमें विज्ञापन वगैरह नहीं लिया जाएगा। पहला अंक पत्र या पर्चा के रूप में आया। पत्रिका का अंक पाने के बाद संदीपन चट्टोपाध्याय ने इसकी तारीफ करते हुए कहा कि लिटिल मैगजीन को जैसा होना चाहिए यह ठीक वैसी ही बन पड़ी है। हिंदी के क्षेत्र में भी इस पत्रिका को लेकर काफी धमाका हुआ। कुल मिलाकर उस समय तक हम महज रेबेल थे-विद्रोही। हम लोग राह तलाश रहे थे। जैसे बंगाल में हंग्री जेनरेशन या तेलुगु में 'दिगंबर', 'तिरगबडु' कवुलु, मराठी अशोक गुप और बिकनिक वगैरह हम इस सिस्टम से, इस व्यवस्था से बहुत नाराज थे और व्यवस्था विरोधी रचनाएं कर भी रहे थे। नक्सलबाड़ी की घटना हुई तो हमें इससे दिशा मिल गई। हमारे लिए खास सुविधा यह थी कि हमारे साथ जो साथी थी, खुद जलपाईगुड़ी की थीं और नक्सलबाड़ी की घटना होने के साथ ही साथ हम एक तरह से मानसिक रूप से नक्सलबाड़ी से जुड़ गए। आमुख को जिस बात की तलाश थी कि- कहां से शुरू करें- नक्सलबाड़ी से हमें उस सवाल का जवाब मिल गया। वह ऊर्जा हमें वहीं से मिली। इसके बाद हमें पीछे मुड़कर देखने की कोई जरूरत नहीं हुई। इसलिए आमुख में नक्सलबाड़ी पर हिंदी की पहली कविता धूमिल ने लिखी। हम लगातार इसके बाद भी लिखते ही रहे। बाद में मेरी जो पहली बार गिरफ्तारी हुई वह नक्सलबाड़ी पर तीन पुस्तिकाएं निकालने के जुर्म में हुई। इसी के साथ-साथ हम लोग छोटी-छोटी पुस्तिकाएं छापते जो नक्सलबाड़ी के बारे में हुआ करतीं।

बनारस में युवा पीढ़ी पर नक्सलबाड़ी का जो असर पड़ा, साहित्य के क्षेत्र में आप उन शुरुआती लोगों में से एक हैं जिन्होंने नक्सलबाड़ी को साहित्य के क्षेत्र में प्रतिफलित किया। हिंदी साहित्य जगत में नक्सलबाड़ी की प्रतिध्वनि आपकी जानकारी में क्या कहीं और भी हो रही थी? नक्सलबाड़ी आंदोलन का व्यापक असर समाज के हर हिस्से पर पड़ा और कोई अछूता नहीं रहा। यह भी सच है कि इसके बाद भारत अब और वह पुराना भारत न रह गया। एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया तो इस परिवर्तन को प्रतिबिंबित करनेवाला साहित्य क्या और भी प्रकाशित हो रहा था?

सबसे ज्यादा तो बंगाल में लिखा जा रहा था। और सच कहा जाए तो बंगाली होने के चलते मैं उससे वाकिफ भी था। केवल बंगाल में ही नहीं... एक तो सर्वहारा सांस्कृतिक महाक्रांति का काफी प्रभाव था। सारे विश्व में छात्र आंदोलन चल रहे थे जैसे 'आमुख' में हमने कोवेंदी को जिसकी भेंटवार्ता सार्त्र ने ली, छापा। इसी तरह अमेरिकी विश्वविद्यालयों में, जर्मन विश्वविद्यालयों में सभी ओर उग्र छात्र आंदोलन हो रहे थे। इन छात्र आंदोलनों का असर बनारस के स्तर तक भी देखा गया। उस समय युवा वर्ग कुछ अलग सोच रहा था, उस समय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में छात्रसंघ के चुनाव चल रहे थे। उन चुनावों में एस.एफ.आइ से पहले.. स्टूडेंट फेडरेशन का एक साथी खड़ा था और हमारे साथ यानी, आमुख से, कुछ साथी जुड़े थे। उनमें से दो लोग खासकर सत्राजीत मजुमदार और ए.पी. मिश्र की हमने मदद की। ये दोनों हालांकि स्टूडेंट फेडरेशन के नहीं थे फिर भी हमने उनकी मदद की। इसका काफी असर पड़ा और इनमें से एक सचिव चुना गया। उनका जो प्रतिनिधि था एस.पी. सिन्हा वह भी चुना गया। इसके पहले बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी में आम तौर पर कांग्रेस के छात्र प्रतिनिधि, या सोशलिस्ट या फिर एबीवीपी के लोग चुने जाते थे। यह पहली बार था जब छात्र फेडरेशन का नुमाइंदा चुना गया था। उस समय विश्वविद्यालय के उपकुलपति ए.सी. जोशी नामक सज्जन थे। उनके प्रश्रय से अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के गंडुई ने ए.पी. मिश्र पर लोहे की छड़ों से हमला किया और उसे बुरी तरह घायल कर दिया। इसपर विश्वविद्यालय में बहुत बड़ा अभूतपूर्व आंदोलन छिड़ गया और विश्वविद्यालय बंद कर दिया गया। इस आंदोलन में बनारस के हिंदी अखबारों में वही वक्तव्य छपते जो अधिकृत रूप से बनारस वि.वि. जारी करता। बनारस के बाहर के अखबारों में भी यही हाल था। यहां तक कि हमारे घनिष्ठ पत्रकार जिनके साथ मैं काम भी करता रहा था, ऐसे व्यक्ति भी पत्रकार की हैसियत से हमारी बातें सुनने को तैयार न थे और एकतरफा रिपोर्टिंग जाती थी। तब तमाम छात्रों ने मिलकर यह तय किया था कि हम वि.वि. की इस गंभीर समस्या को आम लोगों तक ले जाएंगे यानी सड़क तक ले जाएंगे। लेकिन यह भी विचार था कि बनारस की सड़कों पर ले जाने पर भी कोई फायदा न होगा क्योंकि पी.ए.सी ने शहर को घेर रखा था और जहां भी छात्र नजर आते लाठियों से पीटकर उन्हें बनारस छोड़ने को कहा जाता। छात्रों को शहर से भगाया जा रहा था। वि.वि. के छात्रावास बंद थे। ऐसे में कुछ छात्र मेरे घर पर भी आश्रय लेकर रुके थे। अतः शहर में छात्र ही नहीं थे, तब हम लोगों ने दिल्ली जाना तय किया। उन दिनों दिनेश ठाकुर दिल्ली वि.वि. में पढ़ते थे। हम दो लोग बनारस से दिल्ली गये थे। सत्राजीत मजुमदार ने बनारस में बैठकर 'संजय उवाचः' नामक नाटक लिखा था। बनारस वि.वि. में जो वाकया हुआ, उसका सच्चा चित्रण था। इस नाटक में छात्रों में हुए हमलों को कथावस्तु के रूप में लिया गया। इस नाटक का हमने सबसे पहले पीआरआरएम काफी हाउस के सामने प्रदर्शन की तैयारी की। वजह यह थी कि काफी हाउस में बहुत से पत्रकार बैठा करते थे। हमारे नाटक पर तमाम अखबारों में विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई। नाटक शुरू होने के पहले मैं कहता था 'जैसे कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय संजय अंधे धृतराष्ट्र को वार रिपोर्टर के तौर पर यानी युद्ध संवाददाता के तौर पर कुरुक्षेत्र में जो कुछ हो रहा था उसका सच्चा आंखों देखा हाल बताते थे उसी तरह अब मैं एक पत्रकार यानी आमुख पत्रिका का संपादक होने के नाते बनारस की घटनाओं की असलियत बयां करने आप लोगों के बीच आया हूँ। आप लोग देखिए। बनारस हिंदू वि.वि. में क्या कुछ हो रहा है।'

तो इस तरह से आप लोगों ने सड़क पर नाटक करना भी भारत के इतिहास में पहली बार किया...?

नहीं ...भारत के इतिहास में कहना शायद मुनासिब न हो...लेकिन दिल्ली और बनारस के लिए कह सकता हूँ। वहां के इतिहास में निश्चित रूप से यह 'नुक्कड़ नाटक' पहली बार हुआ। यह दिसंबर 12 या 13... 1968 में। इसके कुल ग्यारह प्रदर्शन हुए। इसके बाद तो पुलिस हमारे पीछे पड़ गई तो हम एक जगह अनाउंस करते- जैसे दिल्ली स्कूल ऑफ इकॉनॉमिक्स में करने का किया था, आइ.टी.ओ. में करने का, कनाट प्लेस में तो किया ही था - कहीं और जहां छात्र कहते हम वहां जाकर प्रदर्शन करते, इससे

छात्रों के साथ हमारा एक रैपो बना। यह हुआ कि बनारस में जो छात्र अपनी जुबान नहीं खोल पाते थे वे इस तरह हम से जुड़ने लगे। जब हम लौटकर बनारस आये तो इसका हमको जबरदस्त फायदा मिला।

तो सड़क या नुक्कड़ पर नाटक या पथनाट्य की शुरुआत एक तरह से आप लोगों ने की। यह 1968 की बात है। दरअसल 1968 के बहुत बाद करीब नौ-दस साल बाद यह एक आम विधा बन गया था। दिल्ली में, बंबई में और अलग-अलग जगहों पर पथनाट्य के छोटे-छोटे समूह उभर आये थे तो क्या जब आपने पहली बार नुक्कड़ नाटक किया तो तब कोई प्रोफेशनल या अमेच्योर ग्रुप हुआ करते थे या आप लोग बस कुछ एक स्वतंत्र व्यक्ति थे जिन्होंने पहली बार इस तरह का प्रयोग किया था?

देखिए! मैं नाटक से बिल्कुल शुरू से ही जुड़ा था। इसमें मुझे बेहद दिलचस्पी थी। बनारस में भी ललित चक्र की ओर से मैं बांग्ला नाटकों में हिस्सा लेता था। इसके अलावा नाट्य परिषद भी था जिनके मंच से मैंने हिंदी नाटकों में अभिनय किया। इनके अलावा हम लोगों ने खुद बनारस से दिल्ली जाने से पहले ही युद्ध विरोधी नाटक, फर्नेन्दो अर्रबल का, 'लड़ाई के मैदान में पिकनिक' नामक नाटक का मंचन हिंदी में अनुवाद कर बनारस के नागरी नाटक मंडली में प्रदर्शित किया जिसे प्रथम पुरस्कार भी मिला। बेशक हम लोग उस तरह के पेशेवर नहीं थे लेकिन हम नाटक फॉर्म को जानते थे... जैसे दिल्ली में उन दिनों दिनेश ठाकुर दिल्ली विश्वविद्यालय से पढ़ाई करते हुए बेरी जॉन के यहां नाटक का प्रशिक्षण ले रहे थे, सीख रहे थे। बाद में दिनेश ठाकुर फिल्मों में भी गए और उनकी एक नाट्य मंडली भी बनी जिसने बॉम्बे में काफी नाम किया और कई नाटकों का मंचन भी किया पर अब वे नहीं रहे। तो ये बात थी कि फॉर्म के बारे में हम वाकिफ थे और हम लोग जानते थे कि सबसे अच्छा यह होगा कि सड़क पर इनका मंचन हो।

तो संप्रेषण की इस विधा को आप लोगों ने लोगों तक पहुंचाने के लिए अपनाया... इसके अलावा आप एक कवि के रूप में भी जाने जाते हैं और उस समय भारत में, खासकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों जगह, नक्सलबाड़ी की प्रतिध्वनि कविता में हो रही थी। इस बारे में अपने जीवन में आपने क्या देखा, क्या किया, संक्षेप में बता सकते हैं ?

देखिए, हमेशा ऐसा होता है कि हर आंदोलन अपने कवि, गायक साथ ले आता है। यह हर जगह देखा गया, हर देश में देखा गया और कविताएं और गाने यही सबसे ज्यादा लिखे जाते हैं। नक्सलबाड़ी के मामले में भी ऐसा ही हुआ। जैसे ही नक्सलबाड़ी की घटनाएं हुईं, उसके बारे में कविताएं और गाने लिखे जाने लगे, 'ओ नक्सल, नक्सलबाड़ी की मां' एक बेमिसाल गाना लिखा गया। उसी तरह हिंदी में नक्सलबाड़ी का जो प्रभाव हम देखते हैं, कलकत्ता के रहनेवाले चार कवि जिनमें उग्रसेन सिंह, तड़ितकुमार, डॉ. महेश्वर और (दिमाग पर जोर देते हुए) एक और कवि जिनका नाम अभी याद नहीं कर पा रहा हूं इन चारों ने अपनी कविताओं को 'शुरुआत' नाम से हिंदी में प्रकाशित किया। जैसा कि बनारस में कवि धूमिल को सबसे ज्यादा इस आंदोलन ने प्रभावित किया था। वे बहुत ही शक्तिशाली कवि थे और उन्होंने नक्सलबाड़ी और श्रीकाकुलम पर बेहतरीन कविताएं लिखीं। लोगों ने शुरू में बहुत सुंदर कविताएं लिखीं जैसा कि हम देखेंगे, पंजाब में बहुत अच्छी कविताएं रची गईं। पंजाब से अमरजीत चंदन जो मेरे परिचित भी थे, पंजाबी के उल्लेखनीय स्वर हैं। वे भी हमारे साथ चले आये और सिर्फ कविताएं छापने के लिए ही नहीं बल्कि क्रांतिकारी पार्टियों के संपर्क की तलाश में भी वे बनारस आये थे। उस समय 'दस्तावेज' नाम से पंजाबी में एक पत्रिका वे निकालते थे जिसमें कवि पाश की कविताएं छपी थीं...तो इस तरह से हम देखेंगे कि सत्तर के आसपास सारे भारत में रचनाएं हो रही थी। उसी तरह हिंदी में, हिंदी के अलावा तमाम भाषाओं में भी क्रांतिकारी साहित्य रचा जा रहा था। तेलुगु में श्री श्री से शुरू कर चेरबंडराजू और वरवर राव तक एक लंबी कतार चली आ रही थी, जिन्होंने अपने आपको नक्सलबाड़ी की पीढ़ी के रचनाकार के तौर पर देखा था। बांग्ला में भी ऐसा ही परिदृश्य था और काफी कुछ लिखा जा रहा था। बहुत लोग जो जेल भेज दिये गये थे उन्होंने असाधारण कविताएं लिखीं थी। इसमें एक और बात हुई। सबसे बड़ी यह

बात थी कि पहले के जो कवि थे वे दूर से देखकर निर्लिप्त भाव से लिखा करते थे, जबकि नक्सलबाड़ी आंदोलन के बाद ऐसे कवि उभरकर आये जिन्होंने किसी न किसी तरह व्यक्तिगत रूप से त्रासदी को भुगता, झेला, उसमें से गुजरकर आये, जैसा कि पाश ने कहा कि 'तुम लोहे की बात करते हो और मैंने लोहा खाकर उसका स्वाद चखा है'। यानी सारे लोग आंदोलन में जो शामिल थे, शामिल लोगों की कविताएं थीं, तो इसका एक अलग असर था, मैं एक चारण के रूप में, उन कविताओं को जो बंगाल से आ रही थीं, और भिन्न-भिन्न भाषाओं से कविताएं आ रही थीं हिंदी में ले आने का काम कर रहा था।

आपने अभी एक संकलन 'शुरुआत' का जिक्र किया। जहां तक मुझे याद है, शुरुआत की भूमिका हंसराज रहबर ने लिखी थी और नक्सलबाड़ी के बाद आनेवाली हिंदी कविताओं का यह पहला ही संकलन आया था। बहुत ही असरदार संकलन के रूप में हिंदी जगत इसे देखता है। इसके बाद क्या आप बताना चाहेंगे कि 'आमुख' का विकास किस दिशा में होता गया और उस पत्रिका से आपका जुड़ाव किस तरह आगे बढ़ता गया?

एक बात मैंने पहले ही कही थी कि नक्सलबाड़ी के बाद मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा, मतलब है कि नक्सलबाड़ी के साथ-साथ जैसे एक तरह का सांठनिक रूप उभरता गया, उदाहरण के लिए कोऑर्डिनेशन कमेटी। जिस तरह हमने नाटक 'संजय उवाचः' किया। सांगठनिक रूपों के समांतर हमारा भी प्रयाण जारी रहा। जैसे कोऑर्डिनेशन कमेटी ने चुनाव बहिष्कार का आह्वान किया। कहा चुनावों का बहिष्कार करो। तो हम लोगों ने चुनाव बहिष्कार पर एक नाटक खेला। हिंदी में 'सुअरबाड़ा', बांग्ला में 'शुवरेर खांवार' नाम से नाटक का मंचन किया। इसके बाद देशव्रती में अनल राय द्वारा रचित 'रॉक्तेर रंग' छपी थी। जिसका हमने 'लाल तराई' नाम से हिंदी में अनुवाद कर प्रदर्शन किया। इस नाटक के जरिये नक्सलबाड़ी की राजनीति का प्रचार किया गया। बाद में प्रेसीनियम थियेटर में असित सेन के निर्देशन में इस नाटक का मंचन दिल्ली में भी किया। बाद में यह पुस्तक रूप में छपी और पसंद की गयी जिसके बाद में और दो संस्करण भी छपे लेकिन अब वह अप्राप्य है। तो इस तरह का था हमारा लगाव और जैसा कि मैंने कहा, 1 मई 1969 को कलकत्ता में एक विशाल जनसभा में पार्टी स्थापना की घोषणा की गई। ठीक उसी दिन बनारस में हमने सी.पी.एम. के दफ्तर के सामने 'सुअरबाड़ा' का प्रदर्शन किया और उसी दिन कुछ ही दूर दशाश्वमेध घाट पर हमने बांग्ला में 'शुवरेर खांवार' का प्रदर्शन भी किया। यानी हम मुख्य आंदोलन के साथ-साथ उसी के समांतर चल रहे थे। जब पार्टी की घोषणा हुई तो यूनीवर्सिटी से जुड़े विद्यार्थियों की एक टीम बन गई। इस टीम में गोरख पांडेय भी थे। हम साथ बैठे और हमने तय किया कि देखो एक सही कम्युनिस्ट पार्टी बन चुकी है और हम कम्युनिस्ट हैं, फ्रीलांसर नहीं। तो हमारा पहला काम होगा, हम इस पार्टी में शामिल हों। इस तरह हमने दो प्रतिनिधियों को कलकत्ता भेजा। वे सरोज दत्त से मिल पाये। सरोज दत्त से उन्होंने यह भी बताया कि बनारस में हम जो लोग हैं, उनमें से दो लोग बंगवासी भी हैं, कलकत्ता आकर जरूरत पड़ने पर काम भी कर सकते हैं। तब सरोजदत्त ने कहा कि कलकत्ता में काम करने को बहुत लोग हैं। यहां आने की जरूरत नहीं। आप लोग बनारस में हो, वहीं काम करो। उन्होंने शिवकुमार मिश्र का संपर्क बता दिया। मैं और कुणाल (कुणाल घोष नामक बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का छात्र जिसने बी.एस.सी में टॉप किया था, तथा पूर्णकालीन कार्यकर्ता के तौर पर हमारे साथ जुड़ चुका था) हम दोनों इलाहाबाद के एक कॉलेज के अध्यापक के घर जाकर टिके और हमें जो पता दिया गया था वहां शिव कुमार मिश्र से हमारी भेंट हुई। जब मैंने अपना परिचय दिया तो उन्होंने कहा, 'अरे! अच्छा तुम लोगों को तो हम बहुत अच्छी तरह जानते हैं।' क्योंकि अखबारों में बनारस हिंदू यूनीवर्सिटी पर काफी कुछ छपता रहा था। इस तरह क्रांतिकारी पार्टी के साथ हमारा संपर्क हुआ जो बाद में किसी न किसी तरह जारी रहा।

क्रांतिकारी पार्टी के समानांतर सांस्कृतिक आंदोलन की महत्ता को आप किस तरह से रेखांकित करेंगे। आज जब क्रांतिकारी आंदोलन ने एक पड़ाव पार कर लिया है और एक नये धरातल पर आ पहुंचा है, नई परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक आंदोलन की दशा और दिशा कृपया रेखांकित करें।

किसी भी युद्ध में योद्धाओं को मानसिक रूप से तैयार करने का काम सांस्कृतिक मोर्चा संभालता है। वह योद्धाओं को बतलाता है कि वे क्यों यह युद्ध लड़ने जा रहे हैं। युद्ध की क्या जरूरत है; इस तरह... मानसिक रूप से प्रस्तुति का काम सांस्कृतिक मोर्चे का सबसे अहम काम होता है। हम मर्सिनरी (भाड़े के सैनिक) नहीं हैं। हम स्वेच्छा से बल्कि अपनी आकांक्षाओं को उकेरते हुए एक नये भारत के निर्माण के लिए लड़ रहे हैं, तो हम क्या चाहते हैं, किस तरह से चाहते हैं। यह सब हमें बताने का काम सांस्कृतिक मंच का होता है। सांस्कृतिक मंच का यह काम है कि वो बताये कि क्या गलत है। लोग पुराने से सिर्फ एक मोहवश जुड़े हुए हैं। भिन्न-भिन्न तरह के मोह उन्हें घेरे हुए हैं। जब उनका मोहभंग होता है, सिर्फ तभी वे क्रांति से पूरी तरह जुड़ पाते हैं। दरअसल क्रांतिकारी संगठन का मूल काम इसी मोह को तोड़ना होता है और लोगों को वास्तविकता के धरातल में ला उतारना होता है। उन्हें इस पैफसले के कगार पर ले आना है कि इसके अलावा उनके पास कोई चारा नहीं। तब वह खुद निर्णय लेगा। निर्णय तो वह खुद लेगा, पर उसके सामने और कोई चारा नहीं है, तो क्यों नहीं है, यह उन्हें सांस्कृतिक संगठन ही बता सकता है। हम जिस दौर में हैं, हमारे लिए एक सर्वभारतीय संगठन की बेहद जरूरत है। अखिल भारतीय क्रांतिकारी सांस्कृतिक संगठन (ऑल इंडिया लीग फॉर रिवोल्यूशनरी कल्चर) ने करीब पंद्रह साल तक यह काम किया भी। लेकिन उसके बाद वह एक तरह से निष्क्रिय हो गया। उसका अस्तित्व ही खत्म हो गया। लेकिन आज फासीवाद विरोधी संगठन... सांस्कृतिक क्षेत्र में विभिन्न संगठनों का संयुक्त मोर्चा रूपी किसी संगठन का होना बहुत जरूरी हो गया है। खास तौर से 1990 के बाद कथित नयी 'उदारवादी'-पर जनता के लिए असल में कठोर-आर्थिक नीति और भूमंडलीकरण के चलते व्यापक पैमाने पर जो हमला हो रहा है वह समस्त जनता पर हमला है। और निस्सहाय जनता को संगठित होने की जरूरत समझाने के लिए एक सांस्कृतिक संयुक्त मोर्चा की शिद्दत से जरूरत महसूस हो रही है, जिसमें देशभक्त, जनवादी लोगों से शुरू कर क्रांतिकारियों तक सभी को शामिल करना होगा और वैचारिक धरातल पर इस मोर्चे की सांस्कृतिक मंच ही अगुआई करेगा। यह बहुत जरूरी है क्योंकि उन क्षेत्रों में जहां क्रांतिकारी पार्टी मौजूद है, खासकर संघर्ष के इलाकों में...मेरा अनुभव बताता है कि 1967 से जो लड़ाई शुरू की गयी वह महज दो सौ वर्ग किलो मीटर के छोटे से दायरे में थी। हां, इसमें जरूर दस हजार किसान संगठित रूप से हथियारबंद होकर शामिल हुए और उन्होंने ऐतिहासिक मार्च किया।

श्रीकाकुलम में भी बड़े-बड़े छापामार इलाके बने, दस्ते बने और जनता के बीच घूमकर प्रचार और संघर्ष भी जारी रखा। लेकिन फिर भी ये सभी अपेक्षाकृत छोटे-छोटे इलाकों में सीमित थे। आज लेकिन स्थिति इससे भिन्न है। क्षेत्रफल में दण्डकारण्य बांग्लादेश से बड़ा है। यहां पार्टी है, फौज है और आज तीसरी जो महत्वपूर्ण बात है, संयुक्त मोर्चे की, इसी की जरूरत है। फ्रंट की जरूरत है। हम किन लोगों को संबोधित कर रहे हैं। आदिवासियों को, दलितों को क्योंकि आदिवासी और दलित मिलकर देश की जनसंख्या के 25 प्रतिशत तक बनते हैं। सच कहा जाये तो कथित आजादी ने इन्हें कुछ नहीं दिया। और आज तो उनके पास जो कुछ भी है-उनका घर, उनकी जमीन -उसे तक छीनने पर आमादा है सत्ताधारी। ऐसी हालत में क्रांति की जरूरत सबसे ज्यादा उन्हीं को है। क्रांति की अगुवाई भी वे ही कर रहे हैं। वे करेंगे भी। आज देश के सबसे पिछड़े हुए इलाके में दुनिया की सबसे आगे बढ़ी हुई राजनीति काम कर रही है। हम जो बुद्धिजीवी हैं, शहरों में रहते हैं, हमारे लिए जरूरी है उनकी बातों को जनता तक पहुंचाना। हम इन बातों को कला के इन रूपों में किस तरह रखें, लेख के रूप में रखें, भाषण का फॉर्म इस्तेमाल करें, लोगों के बीच भाषण देते हुए इन बातों को ले जायें ये हमारा काम होना चाहिए। क्योंकि आज हम लोगों को तय करना है, दुश्मन तो आगे बढ़ रहा है; हम भी उसके हमले के दायरे के बाहर नहीं हैं। हर एक को यह तय करना है कि उसे क्या करना है। हम लोगों ने तय किया है, हम जनता के साथ रहेंगे। तो हमें जनता के पक्ष

को उभारना है और इसके लिए सबसे बेहतर और कारगर संगठन का रूप होगा एंटी फासिस्ट युनाइटेड फ्रंट। खासतौर पर मोदी के आने के बाद यह और भी ज्यादा जरूरी हो गया है।

आपने हिंदी और बांग्ला में तो बहुत कुछ लिखा है और एक कवि के तौर पर आप प्रतिष्ठित हैं, हम जानना चाहेंगे कि आपकी किन भाषाओं में और कौन-कौन सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, साथ ही आपकी वर्तमान सक्रियता से भी हम पाठकों को परिचित कराना चाहेंगे। आगे आपकी क्या योजनाएं हैं?

वैसे 2001 तक मैं दिल्ली में रहा। करीब बीस साल तक...। उस पूरे दौर में मैं सिर्फ हिंदी में लेखन किया। मैंने लिखा भी और अनुवाद भी किया पर तब मुख्यतः 'आमुख' के संपादन में ही व्यस्त था। 2001 में मैं बंगाल आया। सी.पी.एम ने उस समय बंगाल में भीषण दमन चक्र चला रखा था। जिस तरह 1969-70 में नक्सलियों के खिलाफ दमन चलाया गया था उन दिनों भी वैसा ही माहौल था। आधी रात को दरवाजे पर दस्तक आम बात थी। बंगाल में आकर मैंने जो पहला काम किया, 'जनयुद्ध को रोकने के लिए जनगण के खिलाफ युद्ध' जिसे बांग्ला में 'जनो-जुद्धे बिरुद्धे जनोगोणे उपोर जुद्धो', बुद्धदेव भट्टाचार्य के दौर में लिखे गये मेरे बांग्ला लेखों का संकलन है। इसके अलावा बांग्ला में कविताएं भी लिखी थीं। कविताओं की पुस्तिका भी प्रकाशित हुई है। इसके बाद तो लगातार कई किताबें आती रहीं हैं।

दिल्ली में रहते समय जो महत्वपूर्ण काम था वह 'नक्सलबाड़ी और साहित्य' नाम से प्रकाशित हिंदी प्रबंध था। इसमें सत्तर के दशक में समूचे भारत में जो क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़ा साहित्य लिखा गया था, उसके बाद उनके रचनाकारों के बारे में एक परिचयात्मक दीर्घ प्रबंध था। बांग्ला में मेरी पोस्टर कविता भी पहले पहल आयी। सिंगूर नंदीग्राम जैसे आंदोलनों के दौरान 'सिंगूर नंदीग्रामे मिछिले' नाम से कविताओं का संकलन आया। इसके बाद 'नंदीग्राम पार होते हुए लालगढ़' नाम से एक और संकलन आया। 'आमुख' के संपादन के पूरे काल में कविताएं तो लगभग मैंने लिखना छोड़ ही दिया था। 'सत्ता की संगीन के खिलाफ' एक संग्रह हालांकि उस समय छपा था। लेकिन इधर चूंकि उस तरह से संपादन का कोई भार नहीं था, इसलिए लगातार कविताएं लिखीं... लिखने का समय भी मिला और अन्य रचनाएं भी कीं। इन कविताओं को लोगों ने सराहा भी। इसके अलावा मैं लगातार कोशिश करता रहा कि... विभिन्न भाषाओं में जो क्रांतिकारी साहित्य है, उसे अन्य भाषाओं में लाना। जब तक दिल्ली में था यह काम मैं हिंदी के लिए करता रहा। मैंने बहुत सारे क्रांतिकारी कवियों का अनुवाद बांग्ला से हिंदी में किया है। कुछ अर्थ में कहा जा सकता है कि सत्तर के दशक में उनका डॉक्यूमेंटेशन मैंने किया है। अब यहां आने के बाद मुझे लगा कि और भारतीय भाषाओं में क्रांतिकारी साहित्य का लेखन हो रहा है या हुआ है उससे मैं बांग्ला के पाठकों को परिचित कराऊं, उसकी जानकारी यहां बहुत कम है। यहां के लेखकों को भी इसकी जानकारी नहीं थी। दिल्ली में जैसे स्वयं संपादन करते हुए पत्रिका निकालता था उसकी बजाय अब यहां से दो-तीन-चार अच्छे पत्र निकल रहे हैं उनके लिए ही काम कर रहा हूं। जैसे एक लोकप्रिय पत्रिका 'एवं जलार्क' में वरवर राव पर एक विशेषांक की सामग्री बनाकर दी। यह प्रकाशित भी हो चुकी है। खुद वरवर राव ने कहा कि उनपर इतनी समग्रता के साथ अच्छा संकलन पहले कहीं नहीं छपा है। इसी पत्रिका में गदर पर इसी तरह का संकलन प्रकाशित हुआ है-विशेषांक के रूप में जिसकी पूरी रूपरेखा, लेखन और अनुवाद का काम खासकर उनकी रचना 'असौमित गान खान' का अनुवाद मैंने किया था। यह जननाट्य मंडली के बाईस वर्ष के इतिहास का लेखा-जोखा है। उसको भी बांग्ला में प्रकाशित करवाया है। एक प्रकाशक ने इसे एक किताब के रूप में भी प्रकाशित किया और अब तो बांग्लादेश में भी इस किताब का अलग से प्रकाशन हुआ। नाम था 'सीमाहीन गानेर खोनी'। बहुत सी किताबें जो हम हिंदी में छाप रहे थे जैसे तेलुगु से अनूदित 'रागो', यहां आने के बाद हमने उन्हें किताबों का बांग्ला में अनुवाद किया। और प्रकाशन के बाद मेरे ख्याल से उन्हें काफी सराहा भी गया। 'अड़वीपुत्रिका' जिसका हिंदी अनुवाद 'जंगल की लड़की' के रूप में हुआ था यह वनजा की लिखी किताब थी, जिसका बांग्ला अनुवाद हम लोगों ने इस बीच

प्रकाशित किया। बांग्लादेश में भी उसका बाद में प्रकाशन हुआ। इस तरह से कुल मिलाकर लेखन के क्षेत्र में काफी काम किया।

इसी बीच न्गुगी पर एक...हमने देखा कि बंगाल में अफ्रीका के साहित्य पर बहुत कुछ छपता है पर न्गुगी को जो सम्मान दिया जाना चाहिए...उन्हें भारत में, आज के लेखन में, समकालीन विश्व लेखन में न्गुगी को जो स्थान मिलना चाहिए वह नहीं मिला...तो मैंने 'दिनंतेर अन्वेषणे' से इसकी शुरुआत की। 2001 में यहां आने के बाद इस पत्रिका से जुड़ गया था-उन्होंने एक विशेषांक निकाला। इसके बाद कुछ लेखकों को लेकर वीक्षण पत्रिका में न्गुगी पर एक...विशेषांक निकाला। इसके अलावा 'एवं जलार्क' ने भी न्गुगी और उत्तर-आधुनिकतावाद पर एक विशेषांक निकाला। ऐसे कुछ काम लगातार करता रहा। बहुत सा लेखन जो बांग्ला में उपलब्ध नहीं था उन्हें बांग्ला में ले आया। फिलहाल अभी मैं चार कवियों को लेकर काम कर रहा हूँ। एक पूर्णाक अवतारसिंह 'पाश' की कविताओं को बांग्ला में लाना...तो यह आ गया है। संकलन आज ही मुझे प्राप्त हुआ (फरवरी 2015 के अंतिम सप्ताह में)। इसमें करीब 45 कविताओं का मैंने अनुवाद किया है। तो यह पहला संग्रह आ चुका है। कलकत्ता के बोईमेला (पुस्तक मेला) में जो फरवरी के शुरू में हर साल होता है, उसमें आ चुका है। अगला जो काम अभी तैयार है, वरवर राव की 41 कविताओं का संकलन है। इसी तरह तेलुगु कवि चेरबंड राजू की कुछ कविताएं पहले आ चुकी हैं, मैंने विभिन्न पत्रिकाओं में यहां-वहां प्रकाशित भी किया है, जो 35 कविताएं हुईं। इनका संकलन अब प्रकाशित करने की योजना है। 2017 में हमारे आंदोलन के 50 वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। इस उपलक्ष्य में गोरख पांडेय की कुछ कविताओं का छोटा सा संग्रह मैंने बांग्ला में किया था। उसको कुछ और कविताओं के साथ पुष्ट कर प्रकाशित करना चाहता हूँ। इसके अलावा शिवकुमार मिश्र जी की आत्मकथा 'काकोरी से नक्सलबाड़ी' का अनुवाद हाथ में लिया है। इस पुस्तक को भी शीघ्र ही बांग्ला में प्रकाशित किया जाएगा। आंध्र प्रदेश की राजनीति और साहित्य पर एक किताब पर मैं फिलहाल काम कर रहा हूँ।

कंचन कुमार जी, आपने दिल्ली में रहते हुए प्रोग्रेसिव पब्लिकेशन में क्रांतिकारी साहित्य के प्रकाशन का काम भी किया था, इस प्रकाशन संस्था ने कौन सी किताबें प्रकाशित की हैं ?

प्रोग्रेसिव पब्लिकेशन को हमने शुरू किया था क्योंकि क्रांति को उसका साहित्य चाहिए। इसमें सबसे पहली पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ सोवियत इकॉनॉमी', भारत में हम ने ही इसे पहली बार प्रकाशित किया। यह किताब अंग्रेजी में थी। इसी के साथ हमने सव्यसाची की कविताएं छापीं। उसके बाद बंगाल के बेमिसाल कवि द्रोणाचार्य घोष को हिंदी में अनूदित कर छापा। लेनिन की कविता को एक पुस्तक रूप में छापा जिसका अनुवाद भी मैंने किया। इनसे शुरू कर कविता के अलावा गद्य में भी लू शुन की रचना 'क्रांति और साहित्य' प्रकाशित किया। इस तरह करीब 50 किताबें इस प्रकाशन संस्था के जरिए प्रकाशित कीं। माओत्सेतुंग की रचनाओं के पांचवे खंड का हिंदी अनुवाद भी इस प्रकाशन गृह से प्रकाशित किया गया। हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में किताबें छपीं। कुछ बांग्ला में भी, लेकिन अधिकतर हिंदी में ही छपीं। डॉ. डब्ल्यू.सी. देव ने हिंदू धर्म शास्त्रों का मार्क्सवादी विवेचन किया था जो बांग्ला में लिखा गया था। उसको भी हमने छापा था। 'रागो' जैसे छापामारों के साहित्य को हमने पहली बार इंट्रोड्यूस किया। इसमें हमें सफलता ही मिली।

आप 2001 तक, कोई बीस साल तक दिल्ली में रहने के बाद बंगाल लौट आये तो इसके पीछे आपकी क्या समझ थी। आपने ऐसा फैसला क्यों लिया?

बंगाल में उस समय बड़े पैमाने पर काम शुरू हो चुका था। मुझे लगा कि दिल्ली में मैंने काफी काम किया है और अब दिल्ली बहुत समय तक संघर्ष का क्षेत्र नहीं बनने जा रहा है जबकि बंगाल संघर्ष का क्षेत्र बनता जा रहा है। मुझे लगा कि एक रचनाकार और कलाकार-संपादक की हैसियत से आंदोलन में जो सहयोग मैं कर सकता था एक लेखक, एक अनुवादक, एक प्रकाशक होने के नाते उन चीजों को यहां करना

ज्यादा प्रासंगिक होगा। यही सोचकर मैं यहां आया। और अब कह सकता हूँ कि मैं बखूबी ऐसा कर पाया। क्योंकि बंगाल में इन चीजों को चाहने वालों की कोई कमी नहीं। आप देखिएगा हमने नक्सलबाड़ी आंदोलन के तीस साल के उपलक्ष्य में बंगाल में बहुत बड़े पैमाने पर कार्यक्रम किये जिसको बहुत समर्थन मिला और हमें जो लग रहा था कि नक्सलबाड़ी के बाद बड़े पैमाने पर जनउभार आनेवाला है वह लालगढ़ में सही साबित हुआ। तो इन तमाम चीजों में बंगाल में आकर जो काम मैंने किया: तेलुगु में जो नया साहित्य आ रहा था, जैसे नब्बे के दशक में आया उपन्यास रागो, उसका अनुवाद हमने करवाया, कोयला खदान मजदूरों पर लिखी गयी अन्य कहानियों का अनुवाद किया। तेलुगु साहित्य में 'लाल पताका' नाम से जो संकलन आया उसका बांग्ला अनुवाद निकाला। हमारे एक साथी कामरेड अनिल करंजई, जो अब नहीं रहे; जिन्हें रिवोल्यूशनरी डेमोक्रेट मानता हूँ, वे चित्रकार थे, उन पर एक विशेषांक निकाला। इस तरह बंगाल में जो अलग-अलग खेमों में बंटे थे हमने बंगाल में ऐसी स्थिति पैदा की कि क्रांतिकारी रचनाएं विभिन्न पत्रिकाओं में बड़े इत्मीनान से अब लोग छापने लगे हैं। यह स्थिति पहले नहीं थी। खासकर लालगढ़ में जो जनआंदोलन हुआ, जो आठ महीनों तक गहन रूप से जारी रहा इतने लंबे अरसे तक चलने वाला इस तरह का यह पहला ही जनउभार था। इस तरह मैं इन्हीं विचारों से यहां आया था। यह जानकर तो नहीं आया था कि बिल्कुल ऐसा ही होगा, लेकिन कहीं न कहीं मुझे लगा कि यहां मेरी जरूरत होगी, मेरा काम ज्यादा सार्थक होगा। मैं लोगों के काम आउंगा। और ऐसा हुआ भी। 'आमुख' के संपादन के दौरान मेरा अपना लेखन तो लगभग... खासकर कविताएं लिखना छूट ही सा गया था। गद्य तो फिर भी लिखा करता था लेकिन यहां लौटने के बाद मैंने बहुत लिखा। मेरी बहुत सारी कविताएं इसी दौर में लिखी गईं। विभिन्न पत्रिकाओं के बहुत सारे अंकों में लगातार लिखना जारी है। अब हमारी योजना है, इस साल एक पत्रिका का विशेषांक नक्सलबाड़ी पर निकाला है और अगले तीन नक्सलबाड़ी दिवस के अवसरों पर तीन अंकों की योजना बनायी है जो एक के बाद एक प्रकाशित होगी। मेरा ख्याल है कि कुल मिलाकर इनका असर अच्छा रहेगा।

साहित्य का समाज पर प्रभाव तो निर्विवाद है इसी तरह सामाजिक आंदोलनों का असर साहित्य और संस्कृति पर भी समान रूप से पड़ता है। इनके बीच आपस में जो अन्योन्य संबंध है आप एक तरह से उसके प्रतीक हैं। आपने हमेशा निजी जीवन को तरजीह न देते हुए क्रांतिकारी आंदोलन में सांस्कृतिक क्षेत्र को अपना जीवन समर्पित किया, सौंप दिया है। आमुख के करीब पैंतालिस अंक तीस वर्षों में जो आये हैं, उसका हिंदी साहित्य और खासकर क्रांतिकारी सांस्कृतिक आंदोलन में एक अलग स्थान रहा है, उसके संपादक की हैसियत से आपने क्या महसूस किया। और अंत में उसे बंद करने की नौबत क्यों आयी?

देखिए फिर एक तो मैं कलकत्ता चला आया। कलकत्ता से हिंदी पत्रिका चलाना बहुत मुश्किल है और हमेशा 'आमुख' के लिए या किसी भी पत्रिका के लिए एक टीम की जरूरत होती है और 'आमुख' बंद होने से पहले पंद्रह सालों तक 'आमुख' अखिल भारतीय क्रांतिकारी सांस्कृतिक लीग का मुखपत्र रहा। जब वह संगठन ही सक्रिय न रहा तो मैं उसे अलग से तो निकाल नहीं सकता था। और निकालने की इच्छा भी नहीं थी। यहां बंगाल से निकालने का भी कोई औचित्य नहीं था। बंगाल में आने पर यहां बांग्ला में लेखन का तकाजा था। आमुख के बारे में मैं यही कहूंगा कि आमुख का महत्व लगता है तो लोग खुद आगे आयेंगे। वैसे मैं समझता हूँ कि कोई जगह तो खाली नहीं रहती है। वेक्यूम नहीं रहता। उसकी जगह अब कोई और पत्रिका ऐसी भूमिका निभायेगी। उसकी जगह ले लेगी। ऐसा ही होता है।

आपने न्गुगी वा थ्यांगो का जिक्र किया, क्या भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक क्षेत्र में उनके साहित्य का कोई असर आप देखते हैं ?

निश्चित रूप से असर तो है ही। जैसे कि हमारे दिमाग का अनौपनिवेशीकरण, डीकॉलोनाइजिंग दि माइंड और दूसरी, केंद्र को बदलने की बात वो करते हैं। डीकॉलोनाइजिंग दि माइंड और यूरोप केंद्रिकता पर उन्होंने जो लिखा है एक तरह से हम जिस तरह सोचते हैं, हम आज भी औपनिवेशिक दायरे में सारी चीजें सोचते हैं, और मूविंग दि सेंटर यानी यूरोप केंद्रिकता से सोचने की बजाय हमारे लिए 'तीसरी दुनिया' के देश के नजरिये से सोचना और इसी बात को आगे बढ़ाते हुए विशिष्ट वर्ग को छोड़कर साधारण जन और दलित लोगों के नजरिये से दुनिया को देखने की, परिभाषित करने की जरूरत... तो इस तरह केंद्र को हटा लाने की जरूरत के पीछे की यह सोच बहुत ही मौलिक और महत्वपूर्ण है और उन्होंने जो कलात्मक रूप लिए हैं वह भी बहुत अच्छा है। सही मायने में यह माओवादी चिंतन है लेकिन इसमें कोई जॉरगन नहीं है। कलात्मकता के साथ कोई समझौता भी नहीं है। किसी भी तरह की राजनीति से कोई समझौता न करके कला के क्षेत्र में भी कोई खामी न रहने देते हुए इस तरह के नजरिये को आगे लाने में जो जिम्मेदार हैं उनमें न्गुगी सबसे आगे हैं, ये हमारे लिए मॉडल हैं।

नेपाल के आंदोलन से, वहां के क्रांतिकारी आंदोलन और माओवादी पार्टी नेतृत्व से आप काफी करीब से जुड़े रहे। आज नेपाल के आंदोलन का जो हश्र हुआ, उसके बारे में आप क्या कहेंगे? और वहां उसकी जो सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है, प्रतिबिंब है, आप हमारे पाठकों को उसके बारे में कुछ जानकारी देंगे?

देखिये, एक तो राजनीति ऐसी चीज है, उसको अगर आप सही ढंग से पकड़े नहीं रखेंगे न...तो आपका नीचे गिरना तय है। नेपाल की पार्टी के साथ यही हुआ है। बहुत बहादुराना ढंग से उन्होंने इलाकों में संघर्ष किया मगर जैसा तेलंगाना में हुआ था... वहां तीन हजार गांवों को मुक्त कर लेने के बाद भी राजनीतिक तौर पर नेतृत्व ने उसको कंसोलिडेट (सुदृढ़) नहीं किया इसीलिए उसकी रक्षा नहीं कर पाये। और यहां भी जो लोग काम को बढ़ा रहे थे उन्होंने अपनी राजनीति बदल डाली। परिणाम जो होना है वही हुआ। वैसे सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने जनयुद्ध शुरू करने से पहले एक बैठक बुलाई थी। एक गोष्ठी की थी। जिसमें वरवर राव के साथ मुझे संजीव आदि को बुलाया था। संजीव तो आये लेकिन वे लोग एक दिन पहले ही हमें लेकर चले गये थे, इसीलिए वे नहीं पहुंच पाये, हम दोनों गये। वे तय करना चाहते थे कि क्रांतिकारी साहित्य का क्या रूप रहेगा वगैरह...वे उस समय तय कर रहे थे। ये उनके लिए बहुत बेहतरीन मौका था और जबकि हम लोगों के साथ दूसरी बात हुई। लड़ाई पहले हुई उसके बाद साहित्य उभरा। वहां लड़ाई से पहले उन क्षेत्रों में काम करके उन लोगों ने एक परिवेश बनाया। कुल मिलाकर इसका नतीजा क्या हुआ यह तो मैं नहीं जानता क्योंकि बाद का साहित्य हम लोगों ने बहुत कुछ नहीं देखा; हां, जब संघर्ष चल रहे थे उनकी कुछ रचनाएं हमें 'आमुख' के लिए मिलती रहीं और थोड़ा बहुत छापा भी और निश्चित रूप से उसमें संघर्ष का, उस समय के लिखे साहित्य में फर्क तो मिलेगा और मेरा ख्याल है कि आनेवाले दिनों में कभी 'समकालीन तीसरी दुनिया' में वहां के साहित्य पर एक विशेषांक जो आ रहा है उसमें नेपाली साहित्य का पता भी चलेगा, कह सकता हूं। लेकिन उस हिसाब से बड़े पैमाने पर तो मैंने नहीं देखा लेकिन छिटपुट जो भी देखा है उसमें फर्क तो नजर आ रहा है।

क्रांतिकारी आंदोलन के साथ क्रांतिकारी साहित्य के क्षेत्र में बांग्ला के अवदान के साथ-साथ तेलुगु भाषा में भी बहुत काम हुआ है। तेलुगु सांस्कृतिक आंदोलन, तेलुगु साहित्यिक आंदोलन जो हमेशा नक्सलबाड़ी के क्रांतिकारी आंदोलन के साथ खड़ा रहा उससे आपका भी बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है और आज तक वह जारी है। इस क्षेत्र में अपना अनुभव क्या हमारे साथ बाटेंगे?

देखिए, क्रांति के साथ-साथ उसके गायक भी आते हैं उसका साहित्य भी आता है। नक्सलबाड़ी के समय जो क्रांतिकारी लड़ाई शुरू हुई थी उसके प्रभाव से सारे भारत में भी किसान संघर्ष फैलते चले गये थे। ये जो लड़ाइयां हुईं, उनके फलस्वरूप बंगाल में तो असाधारण रचनाएं, खासकर कविताएं लिखीं गईं। इसी तरह पंजाब में भी बहुत उम्दा क्रांतिकारी साहित्य रचा गया। मलयालम में भी लिखे गये। बेशक तेलुगु में बहुत लिखा गया है। खासकर इस आंदोलन के कवि के तौर पर चेरबंडराजू उभरे, वरवर राव उभरे हैं।

जब एनकाउंटर शुरू हुआ तब पहली कथा चेरबंड राजू ने लिखी थी जो सारे भारत में कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी है। मैंने भी आमुख में उसका अनुवाद प्रकाशित किया था। तो उसी तरह सबसे बड़ी बात है कि इस आंदोलन ने लेखक, रचनाकार समुदाय को ऊपर से नीचे तक बांट दिया। कौन जनता के पक्ष में है और कौन जनता के विरोध में है, इस आधार पर यह विभाजन हुआ और ऐसा हो सका एक संगठन के चलते। जैसे आंध्र में 'विप्लव रचइतालु संघम' (विरसमद) नामक एक संगठन जिसकी स्थापना 4 जुलाई 1970 को हुई। इन्होंने समूचे आंध्र प्रदेश के क्रांतिकारी रचनाकारों को संगठित किया। जिसमें श्री श्री और कोइवटीगंटी कुटुंबराव से लेकर रावी शास्त्री जैसे, के.वी.आर. जैसे बड़े साहित्यकारों के साथ ही चेरबंड राजू और वरवर राव से लेकर तमाम उभरते हुए नये कवि थे। उस समय तीन पीढ़ियों के लेखक इसमें शामिल थे। और सबसे उम्दा बात, इस संगठन ने जो काम किया, 1970 के आसपास पूरे भारत में हांलाकि क्रांतिकारी साहित्य रचा जा रहा था लेकिन उस क्रांतिकारी लेखन को बरकरार रखते हुए आज तक जारी रखा सिर्फ आंध्र ने। एक तो वहां लेखक लिख रहे थे बल्कि जिस समय श्रीकाकुलम का आंदोलन लगभग कुचल दिया गया था, खत्म हो रहा था। तब नेतृत्व के 93 प्रतिशत मारे जा चुके थे या बंदी बनाये जा चुके थे। उस समय श्रीकाकुलम के संग्राम के गीत 'विरसम' के कवि गीतकारों ने गाये। श्रीकाकुलम की संघर्षगाथा को सारे आंध्र और तेलंगाना में फैलाया। जन जन की जुबान तक पहुंचाया। जिसके फलस्वरूप जो हुआ है, क्रांतिकारी संग्राम के साथ-साथ क्रांतिकारी साहित्य को एक उर्जा मिली। तेलंगाना और आंध्र ऐसी जगह रहे हैं जहां क्रांतिकारी आंदोलन के साथ-साथ क्रांतिकारी साहित्यांदोलन हाशिए पर नहीं है। सारी बड़ी पत्रपत्रिकाओं में तमाम ऐसे लोग लिख रहे हैं, जो गांव देहातों से लिख रहे हैं या क्रांतिकारी जन संगठन के लोग लिख रहे हैं। इस तरह के लोग आज लेखक हैं, संस्कृतिकर्मी हैं। केवल आंध्र-तेलंगाना में ही इस तरह क्रांतिकारी साहित्य प्रतिष्ठित हुआ। वहां के साहित्याकाश में सबसे ज्यादा सम्मानित लोग भी क्रांतिकारी रचनाकार ही हैं। ऐसा और कहीं न हो पाया जबकि सत्तर के दशक में भारत में बहुत ही उम्दा रचनाएं हुईं। लेकिन कहीं भी इस तरह के लेखन को प्रतिष्ठा नहीं दिला पाये।

आपने फासीवाद विरोधी सांस्कृतिक-साहित्यिक मोर्चा की जरूरत को रेखांकित किया। विरसम के उदाहरण को लेते हुए मैं आपसे पूछना चाहूंगा कि क्या इस तरह से शुरू से ही रचनाकारों का, कलाकारों का, साहित्यकर्मियों का संगठित हो जाना जरूरी है। समाज के प्रति अपनी निष्ठा और अपने कर्तव्य का पालन करते हुए देश में जो परिवर्तन का, क्रांति का आंदोलन चल रहा है उसके प्रति अपना समर्पण जिस तरह से संगठित रूप से आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में किया है, क्या आप समझते हैं कि फासीवाद विरोधी साहित्यकारों, कलाकारों, रचनाकारों का आंदोलन भी उसी तरह से संगठित रूप से आगे आये, तभी वह टिकाऊ और असरदार होगा और समाज परिवर्तन की इस प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभा सकेगा?

देखिए, हमेशा चीजें...उचित वातावरण में ही आकार लेती हैं... जैसा कि हम कहते रहे हैं, सत्तर के दशक में विप्लव रचइतालु संघम की ओर से एक अखिल भारतीय संगठन बनाने की पहल की गयी थी। श्री श्री आये थे और हंसराज रहबर ने मिलकर इसका प्रयास किया था। उस समय दिल्ली में ऐफ्रो-एशियन लिटरेरी कांफ्रेंस चल रहा था। मगर उस समय यह नहीं बन पाया। पर इसी काम को लगातार प्रयास जारी रखते हुए 'विरसम' के साथियों की पहलकदमी से बाद में अखिल भारत सांस्कृतिक संघ के नाम से (ए.आइ.एल.आर.सी.) संगठन बना। 'विरसम' के साथियों ने बहुत मेहनत से तमाम लोगों को एकजुट किया। उस समय यह काम केवल क्रांतिकारी विचारधारा के रचनाकारों, कलाकारों के लिए किया गया था। मगर आज फासिस्ट आक्रमण केवल क्रांतिकारी और परिवर्तनकारी आंदोलनों पर ही नहीं है, बल्कि सारी जनता ही आज फासिज्म का सीधे शिकार है। खासकर हम कहेंगे कि ग्लोबलाइजेशन और प्राइवेटाइजेशन और नवउदारवादी अर्थव्यवस्था की हृदयहीन नीतियों का जो हमला है वह समस्त जनता पर है। हमारी सत्ता में भी... जो छंटे हुए फासिस्ट हैं, वही आज सत्ता में हैं। ऐसी एक वस्तुगत स्थिति आज इस देश में बनी है। आंध्र में ही बड़े पैमाने पर एक पिपुल्स लिटरेरी यूनाइटेड फोरम बनाने की कोशिश की गयी थी जिसमें केवल मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को माननेवाले ही नहीं, बल्कि देशभक्त

और जनवादी विचारधारा के लोग भी शामिल हो सके। उस समय शुरुआत भले ही अच्छी हुई हो पर बात आगे बढ़ी ही नहीं, मगर आज मुझे लगता है कि स्थितियां कुछ ऐसी हैं कि खुद लोग समझ रहे हैं। हम अगर बंगाल में देखें यहां तो एक तरह से एक खुले फासिज़्म का ही, एक तरह की इमरजेंसी का ही माहौल बना हुआ है। महिलाओं का बलात्कार आम बात हो गई है, यहां हर दिन ऐसी घटनाएं हो रही हैं। शासक वर्ग के गुंडे कुछ भी कर जाएं, छात्रों पर जुल्म ढा रहे हैं। ये बातें दिनोंदिन और बढ़ेंगी। इसके प्रतिरोध के लिए निश्चित रूप से लेखकों को ही सामने आना होगा। इसके खिलाफ लड़ने की एक मानसिकता तैयार करनी होगी और बड़े पैमाने पर यह करना है। कॉरपोरेट ऑफिस का जो हमला है, एग्रेसन है, किसी को चैन से नहीं बैठने देगा। इसके प्रतिरोध में लेखकों को निश्चित रूप से सामने आना है। आपको तय करना है अगर लेखक ही यह काम न करे तो और कौन करेगा।

वैकल्पिक राजनीतिक सत्ता और वैकल्पिक संस्कृति, भारत के संदर्भ में इन दोनों बातों की जरूरत आज देखी जा रही है। राजनीतिक सत्ता का केंद्र कहीं कहीं मध्य भारत में नजर भी आ रहा है। सांस्कृतिक क्षेत्र में यह किस तरह से आगे बढ़ेगा, इस पर आप क्या सोचते हैं?

देखिए, कोई भी नई चीज आसमान से तो नहीं उतरती है। एक वस्तुगत परिस्थिति है और वैकल्पिक राजनीति, एक यथार्थ प्रयोग चल रहा है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। लोग इसे चाक्षुस देख भी रहे हैं। उन्हें फर्क स्पष्ट दिखाई भी पड़ रहा है। उसी की जरूरत है।

आपसे यह बातचीत काफी जानकारियों से भरी है और हमारे पाठक इससे निश्चित लाभान्वित होंगे। आगे भी आपसे वार्तालाप जारी रखना चाहेंगे। फिलहाल आपसे विदा चाहता हूं।

धन्यवाद।